स्वदेशी विज्ञान एवं स्वदेशी समाज

दस पीढ़ियों से बनाते बिघडते सम्बन्ध की व्याख्या

लोकविद्या और समाज का रिश्ता

सुनील सहस्रबुद्धे

विद्या आश्रम

सारनाथ, वाराणसी

स्वराज पुस्तकमाला–1

स्वदेशी विज्ञान एवं स्वदेशी समाज

दस पीढ़ियों से बनते-बिगड़ते सम्बन्ध की व्याख्या

•

लोकविद्या और स्वराज का रिश्ता

•

सुनील सहस्त्रबुद्धे

मूल व्याख्यान

समाज एवं विज्ञान विभाग
पारम्परिक विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी महाधिवेशन
28 नवम्बर से 3 दिसम्बर, 1993
आई. आई. टी., मुम्बई-400076

•

विद्या आश्रम
सारनाथ, वाराणसी-221001

स्वराज पुस्तकमाला–1

स्वदेशी विज्ञान एवं स्वदेशी समाज

दस पीढ़ियों से बनते–बिगड़ते सम्बन्ध की व्याख्या

•

लोकविद्या और स्वराज का रिश्ता

•

सुनील सहस्रबुद्धे

मूल व्याख्यान

समाज एवं विज्ञान विभाग

पारम्परिक विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी महाधिवेशन

28 नवम्बर से 3 दिसम्बर, 1993

आई. आई. टी., मुम्बई-400076

•

विद्या आश्रम

सारनाथ, वाराणसी-221001

स्वराज पुस्तकमाला – 1

पुस्तिका : **स्वदेशी विज्ञान और स्वदेशी समाज**

लेखक : **सुनील सहस्रबुद्धे**

प्रकाशन वर्ष : 2017

सहयोग राशि : 25.00

प्रकाशक : लोकविद्या जन आंदोलन के लिये विद्या आश्रम की ओर से डॉ. चित्रा सहस्रबुद्धे, समन्वयक, विद्या आश्रम द्वारा प्रकाशित

सम्पर्क पता : विद्या आश्रम, सा 10/82 ए, अशोक मार्ग सारनाथ, वाराणसी-221007

सम्पर्क फोन : लक्ष्मण प्रसाद

ई-मेल : vidyaashram@gmail.com

वेबसाइट : vidyaashram.org

ब्लाग : lokavidyajanandolan.blogspot.com

मुद्रक : सत्तनाम प्रिंटर्स
एस-1/208, के-1, नई बस्ती
पाण्डेयपुर, वाराणसी-221002

व्याख्यान का संदर्भ

चेन्नई स्थित पैट्रियाटिक एण्ड पीपुल ओरियन्टेड साइंस एण्ड टेक्नोलॉजी फाउण्डेशन (पी. पी. एस. टी.) की अगुआकारी में 1980 के दशक में इस देश में साइंस और टेक्नोलॉजी को एक सामाजिक लोकहितकारी समीक्षात्मक दृष्टि से जाँचना शुरू हुआ। पी. पी. एस. टी. के नेतृत्व में ही 1990 के दशक में भारत के परम्परागत विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी पर तीन बड़े-बड़े महाधिवेशन आयोजित किये। प्रत्येक महाधिवेशन में लगभग 1500 लोगों ने पाँच दिनों के लिये भाग लिया और पारम्परिक उद्योग, कृषि, धातु एवं पदार्थ, वान्यिकी, वस्तु, स्वास्थ्य, सैद्धांतिक शास्त्र और दर्शन जैसे विषयों पर आपस में चर्चा की। पहला महाधिवेशन 1993 में मुम्बई आइ. आइ. टी. में हुआ। दूसरा महाधिवेशन 1995 में चेन्नई में अन्ना यूनिवर्सिटी में हुआ और तीसरा, 1998 में वाराणसी के गांधी विद्या संस्थान में आयोजित किया गया। इस तीसरे महाधिवेशन को लोकविद्या महाधिवेशन का नाम दिया गया और इसके महासचिव श्री सुनील सहस्रबुद्धे थे।

सुनील सहस्रबुद्धे ने मुम्बई में हुये पहले महाधिवेशन में 'समाज और विज्ञान' विषयक क्षेत्र का मूल व्याख्यान दिया था। यह व्याख्यान 'स्वदेशी विज्ञान और स्वदेशी समाज' शीर्षक से मूलतः हिन्दी में लिखा गया और उपस्थित लोगों के बीच बाँटा गया। चूँकि श्रोताओं में हिन्दी कम समझने वाले अनेक लोग थे इसलिए भाषण अंग्रेजी में दिया गया। यही लेख इस पुस्तिका में प्रस्तुत है। लेख का सारांश अंग्रेजी में अंत में दिया गया है।

लोकविद्या और स्वराज

21वीं सदी के इस दूसरे दशक में 'स्वराज' पर नये सिरे से बहस शुरू हुई है। अन्ना हजारे के नेतृत्व में 2011 में हुये भ्रष्टाचार विरोधी आंदोलन ने भ्रष्टाचार मुक्त राजनैतिक व्यवस्था को स्वराज के विचार के मार्फत एक व्यापक बहस का मुद्दा बनाया। इस आंदोलन से निकली धारायें अलग-अलग ढंग से स्वराज शब्द का प्रयोग करती रही हैं। लोकमान्य तिलक और महात्मा गांधी के चलते स्वतंत्रता आंदोलन में स्वराज एक लोकप्रिय एवं लोकहितकारी ध्येय के रूप में अस्तित्व में आया था। आजादी के बाद पश्चिम में उपजी राजनैतिक व्यवस्थायें लोकतंत्र और समाजवाद के नाम पर हावी रहीं। समयांतर में ये विचार एकांगी हो गये और इनमें लोगों को खुशहाली, मुक्ति और आजादी के रास्ते दिखना धीरे-धीरे बंद हो गया। तब देश का ध्यान 'स्वराज' पर फिर से आया।

हमारी समझ यह कहती है कि स्वराज की यह बहस युगांतकारी साबित हो सकती है। इस 'स्वराज पुस्तकमाला' के जरिये लोकविद्या जन आंदोलन इस महान् बहस में भाग लेकर अपने देश और समाज के लिये नये लोकहितकारी मार्ग बनाने में अपनी भूमिका निभाना चाहता है।

लोकविद्या जन आंदोलन समाज के उन तबकों का ज्ञान आंदोलन है जो बड़े पैमाने पर आधुनिक शिक्षा से वंचित रहे हैं और जिनके कार्यों एवं दर्शन में इस समाज की ज्ञान परम्परायें समाहित हैं। स्वराज का विचार भी इन्हीं ज्ञान परम्पराओं और दर्शन से उद्धृत होकर समकालीन समाज में सबके सामने आता है।

किसी भी राजनीतिक-सामाजिक व्यवस्था का आधार निश्चित ज्ञान की व्यवस्थाओं और परम्पराओं में होता है। चूँकि स्वराज सामान्य लोगों के स्वशासन का रूप है, इसे सामान्य जीवन में बसे ज्ञान के साथ जोड़कर

समझा जाना चाहिये। इसी सामान्य जीवन में बसे ज्ञान को लोकविद्या कहते हैं। इस विद्या में निहित जानकारियों, मूल्यों, तर्क की पद्धतियों और संवेदनाओं आदि पर ध्यान दिया जाये तो स्वराज के साथ इसका रिश्ताा अनन्य और अविच्छेद नज़र आता है। इसी रिश्ते में स्वराज के फिर से लोकप्रिय बनने का आधार है।

ज्ञान और राज के बीच का रिश्ता कैसे एक दूसरे को प्रभावित करने वाला होता है यह सूचना विज्ञान के विकास, वैश्वीकरण और नये साम्राज्य के उदय के बीच के सम्बन्धों में देखा जा सकता है। यही आज का दौर है। लोकहित और लोकपहल की परिवर्तन की दृष्टि से इस दौर को परिभाषित करें तो यह जन सामान्य के लिये अपनी विद्या और अपने राज को साकार करने के दौर में बदला जा सकता है। यहीं से लोकविद्या और स्वराज के नये युग का आरम्भ होता है।

लोकविद्या को हम आम जीवन में देख सकते हैं। इसी के अंग के रूप में स्वशासन के मूल्य और तर्क के तरीके भी पहचाने जा सकते हैं। लेकिन पूरे समाज के बारे में स्वराज के नजरिये से देखना आसान नहीं रह गया है क्योंकि इस देश की स्वराज की व्यवस्थाओं को छिन्न-भिन्न हुये अब अनेक पीढ़ियाँ हो चुकी हैं। अंग्रेजों के दबदबे के साथ यह तोड़-फोड़ शुरू हुई थी। उस वक्त से अभी तक अपने ज्ञान की परम्पराओं और स्वराज के बीच बनते-बिगड़ते सम्बन्धों को देखने का मौका मिल जाये तो आज भी स्वराज की बहस के रचनात्मक पक्ष सामने लाने के रास्ते मिलेंगे। यही प्रयास इस पुस्तिका में किया गया है। मूल व्याख्यान 1993 का है। उस वक्त न लोकविद्या और न स्वराज के नाम से बहस है। तथापि यह बहस पारम्परिक विज्ञान या स्वदेशी विज्ञान और उन समाजों (स्वदेशी समाज) के बीच रिश्ते के रूप में है जिन समाजों में इस देश की ज्ञान परम्परायें जीवंत रही हैं। इसीलिये मूल व्याख्यान का यह शीर्षक जो इस पुस्तिका का नाम भी है।

–सम्पादक

विषय-सूची

1. परिचय 1
2. विरासत 2
   - (i) स्वराज की बुनियाद 4
   - (ii) समाज संगठन और स्वदेशी विज्ञान की एकरूपता 7
3. विखण्डन और गांधी का जवाब 11
   - (i) 1757 से 1858 तक 12
   - (ii) 1857 से 1920 तक 14
   - (iii) 1920 से 1947 तक 16
   - (iv) 1947 से 1980 तक 18
4. नई शुरुआत 20
   - (i) किसान आंदोलन 21
   - (ii) पिछड़ी जातियों का उभाड़ 22
   - (iii) स्वदेशी विज्ञान आंदोलन 24
5. अंत में 27
6. व्याख्यान का अंग्रेजी में सारांश 29

•

स्वदेशी विज्ञान एवं स्वदेशी समाज

दस पीढ़ियों से बनते-बिगड़ते सम्बन्ध की व्याख्या

मित्रों! पारम्परिक विज्ञान और प्रौद्योगिकी के इस महाधिवेशन में समाज के संगठन की चर्चा के लिए एक स्वतंत्र विभाग रखा गया है। यह हर्ष का विषय है। यह संगठनकर्ताओं की दृष्टि का कुछ हद तक परिचायक भी है तथा यह उचित है कि इसके लिए हम उनके प्रति आभार व्यक्त करें। विज्ञान का सार, संरचना और विकास-क्रम समाज को कैसे प्रभावित करता है तथा समाज का संगठन, उसके मूल्य, सत्ता के रूप तथा इन सब की तार्किक संरचना विज्ञान को आकार देने में क्या भूमिका निभाती है, यह एक वृहद् विषय है तथा किसी एक लेख अथवा व्याख्यान में इसकी समग्रता के प्रति न्याय कर पाना सम्भव नहीं प्रतीत होता। आपके साथ इस बातचीत में मैं यह मानकर चल रहा हूँ कि यहाँ उपस्थित सभी लोग यह मानते हैं कि विज्ञान और समाज दोनों ही एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। हालाँकि विज्ञान को सर्वथा वस्तुगत एवं सार्वभौम मानने के इस दौर में विज्ञान का समाज पर क्या असर पड़ता है या पड़ सकता है, यही विशेष रूप से अध्ययन का विषय रहा है। ऐसा होने का एक कारण यह भी मालूम पड़ता है कि भारत जैसे देशों में आधुनिक विज्ञान सत्ता के एक औजार के रूप में ही शुरू से रहा है और आज भी है। सौ-दो सौ साल के इस काल में समाज ने विज्ञान को कैसे प्रभावित किया है, यह परम्परागत विज्ञान और प्रौद्योगिकी के सन्दर्भ में अपनी असीम व्यापकता और गहराई में देखा जा सकता है।

महाधिवेशन के विषय के अनुरूप ही हम अपनी बात का संदर्भ भी पारम्परिक विज्ञान और प्रौद्योगिकी का समाज के संगठन के साथ का सम्बन्ध, यही रखेंगे। तर्क बुद्धि और कालक्रम दोनों की ही दृष्टि से ऐसा लगता है कि हम इस विषय को तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं। पहला भाग, उस स्थिति से सम्बन्धित है, जिसमें पारम्परिक विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी का समाज के साथ मुख्यतः सकारात्मक सम्बन्ध है। यह शायद अंग्रेजों के भारत पर आधिपत्य के पहले के काल की बात है। दूसरा भाग, परकीय सत्ता के हाथों टूटते समाज का स्थानीय विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी पर होने वाले प्रभाव तथा ऐसी स्थिति में इस सतत् छिन्न-भिन्न होती ज्ञान परम्परा की समाज के संगठन में भूमिका का है। कालक्रम में यह अंग्रेजीराज के समय से आज तक का किस्सा है। तीसरा भाग, स्वदेशी विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी की जीवन्त परम्पराओं के भविष्य एवं भावी सामाजिक संगठन के आपसी रिश्ते से सम्बन्धित है। आगे की बात इन्हीं तीन बिन्दुओं के इर्द-गिर्द संगठित है। आधुनिक विज्ञान और समाज के संगठन के साथ उसके सम्बन्ध की कोई भी चर्चा यहाँ नहीं की जायेगी। ऐसा करने से जो विषय विस्तार होगा, उसे समय और स्थान के अनुरूप समेट पाना थोड़ा कठिन हो सकता है।

भाग : एक
विरासत : स्वराज और स्वदेशी विज्ञान

भारतीय समाज के इतिहास में बड़े-बड़े परिवर्तन हुए हैं। अंग्रेजी काल में कोई ऐसा परिवर्तन हो गया, जिसका पैमाना अपूर्व था, यह सोचना शायद ठीक न हो। कुषाणों या मुसलमानों के आगमन पर हुए परिवर्तन शायद ही इससे छोटे रहे हों। महाभारत या महात्मा बुद्ध के नतीजे स्वरूप

हुए परिवर्तन भी इनसे छोटे होंगे, ऐसा नहीं लगता। विज्ञान की दृष्टि से भी केवल प्राचीनकाल को ही समर्थ मानना ठीक नहीं है। 14वीं और 15वीं सदी में भी ज्योतिष और तर्कशास्त्र जैसे विषयों में होने वाले अन्वेषण और अनुसंधान के स्पष्ट प्रामाण मिलते हैं। 18वीं सदी में विभिन्न उद्योगों, धातु कार्य, आयुर्वेद, वास्तुशिल्प और कृषि इत्यादि की अवस्था के सम्बन्ध में जो भी तथ्य संग्रहित किये गये हैं, उनका भी संकेत यही है कि उस काल में यह सब रचनात्मक और गतिशील अवस्था में है। इस संदर्भ में धर्मपाल के नाम का विशेष उल्लेख होना चाहिये। 18वीं सदी के भारतीय विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी पर दस्तावेजों के आधार पर लिखी गयी इनकी पुस्तक का सन्देश यही है कि 18वीं सदी का भारतीय समाज गतिशील विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी से समृद्ध एक सक्रिय समाज है। अतः 18वीं सदी का भारतीय समाज पारम्परिक विज्ञान एवं पारम्परिक समाज के आपसी रिश्ते के अन्वेषण के लिए उपयुक्त समाज है। भारतीय समाज का बहुत लम्बा इतिहास है और इसे किसी एक दिशा में हो रहे परिवर्तन की अवधारणा के अन्तर्गत समझना ठीक नहीं है तथा इस भाग में विश्लेषण के लिए विक्रमादित्य, समुद्रगुप्त, हर्ष, चंदेल पल्लव, कृष्णदेव राय, चाँद बीबी, शिवाजी अथवा टीपू; किसी का भी समय उपयुक्त समय है। अंग्रेजों के आने के पहले का यह 18वीं सदी का समय हम केवल इसलिये चुनते हैं कि आज की दृष्टि से प्रासंगिक बात कर सकें।

समाज के संगठन का विषय बहुत व्यापक है। जिस काल के समाज संगठन के साथ विज्ञान के सम्बन्ध की व्याख्या हम करने जा रहे हैं, उस काल के समाज के साथ हमारा यानी आज के शिक्षित वर्गों का सम्बन्ध नहीं के बराबर है तथा इतिहास भी लगभग पूरा विजेताओं अथवा उनके समर्थकों द्वारा ही लिखा गया है, अतः सर्वथा एकतरफा है। इसलिए मैं किसी विस्तृत चर्चा में न पड़कर केवल समाज की आधारभूत वित्त व्यवस्था के ढाँचे के बारे में थोड़ी बात करूंगा और उसी के जरिये विज्ञान एवं

प्रौद्योगिकी तथा समाज की संरचना के पारस्परिक सम्बन्ध के कुछ मौलिक तार पहचानने का प्रयत्न करूँगा।

स्वराज की बुनियाद

सन् 1770 में मद्रास से सटे चंगलपत जिले का एक अंग्रेज श्री बर्नार्ड ने विस्तृत सर्वेक्षण कराया था। इस सर्वेक्षण के तथा अनेक तत्कालीन दस्तावेजों के आधार पर धर्मपाल ने जनवरी 1986 में पूना में तीन भाषण दिये थे। इन भाषणों के आधार पर 18वीं सदी के भारत की वित्तीय व्यवस्था के बारे में कुछ कहा जा सकता है। पूरे भारत में एकदम एक-सी व्यवस्था हो, ऐसी बात नहीं है किन्तु उनकी संरचनागत खूबियों में शायद काफी समानता थी। चूँकि अधिकांश राजस्व स्थानीय स्तर पर ही एकत्रित और वितरित हो जाता था तथा उसका एक छोटा-सा हिस्सा ही किसी केन्द्रीय सत्ता के पास पहुँचता था। इसलिए पहली बात ध्यान में रखने की यह है कि उस समय की वित्तीय व्यवस्था ही केवल अलग थी, ऐसा नहीं है बल्कि राजस्व की अवधारणा ही अलग मालूम पड़ती है। राजस्व शायद उसे कहा जा सकता है, जो धन आर्थिक इकाई द्वारा स्वयं न खर्च किया जाता हो तथा अपने से बड़ी किसी इकाई के प्रति समर्पित हो, जैसे गाँव, जाति, सम्प्रदाय, क्षेत्रीय शासन, केन्द्रीय शासन इत्यादि।

कन्नड़ देश में 15वीं सदी तक तथा मालावार में 1740 तक कोई भूमि-कर नहीं था। रामनाड में भी भूमि-कर नगण्य था। मनु संहिता में कुल उत्पादन का 1/12 कर बताया गया है। मुगलों के समय भी बादशाह तक किसानों द्वारा दिये गये कुल कर का 20 प्रतिशत से अधिक कभी नहीं गया। जहाँगीर के समय तो यह केवल 5 प्रतिशत था। करों की यह मात्रा तत्कालीन ब्रिटेन अथवा बाद के भारत से बहुत कम है। किन्तु किसान अपने कुल उत्पादन का 25 से 40 प्रतिशत तक स्थानीय संस्थाओं तथा गतिविधियों के लिए देते थे। इन स्थानीय गतिविधियों में सुरक्षा,

पंचायतघर तथा सिंचाई जैसे कार्यों का काफी महत्त्व था तथा इन्हें प्रत्येक को कुल स्थानीय कर का तीन से चार प्रतिशत तक मिल जाता था। यही वह स्थानीय सार्वजनिक वित्तीय व्यवस्था थी, जिसमें से गाँव के सेवक, वैद्य, जौहरी, सोनार, लोहार, बढ़ई, नाई, धोबी, मन्दिर, मन्दिर का बगीचा, दीपक का तेल, देवदासी, पुजारी, शिक्षक आदि लगभग 50-60 किस्म के लोगों और उनके कार्यों के लिए आवश्यक अर्थ की व्यवस्था होती थी। इसके अलावा एक मन्यम् भूमि की व्यवस्था थी। यह भूमि गाँव के कुछ विशेष कार्यों एवं संस्थाओं के लिए आवंटित होती थी। इन कार्यों में अधिकतर सांस्कृतिक, धार्मिक तथा स्थानीय सुरक्षा से सम्बन्धित कार्य होते थे। मन्यम् भूमि कुल खेती की भूमि का लगभग छठा हिस्सा होती थी। बेलारी, कड़प्पा, अनन्तपुर तथा बंगाल के कुछ हिस्सों में कुल भूमि का आधा मन्यम् भूमि में था। सन् 1800 में मन्यम् भूमि के किसान जो कर देते थे, वह ब्रिटिश शासन के इलाकों के किसानों द्वारा दिये जा रहे कर का एक-चौथाई था।

अतः उन दिनों केन्द्रीय कोष में अधिक धन नहीं आता था बल्कि किसानों के कर का लगभग 80 फीसदी हिस्सा ग्रामीण अथवा क्षेत्रीय स्तर पर ही खर्च एवं इकट्ठा किया जाता था। बहुत बार तो ऐसा होता था कि जहाँ खर्च होना होता था वहीं पर कर एकत्र भी होता था। कृषि, घरेलू कार्य, हस्तकला एवं उद्योग, स्वास्थ्य, शिक्षा तथा सामान्यतः अनेक सामाजिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक कार्यों के लिए धन की व्यवस्था स्थानीय स्तर पर एकत्र किये गये राजस्व से ही होती थी। जो लोग इन कार्यों में लगे होते थे, वे किसानों पर आश्रित नहीं कहे जा सकते थे, वे तो एक तरह से राज्य के कर्मचारी थे। यह राज्य अवश्य एक सर्वथा अलग किस्म का राज्य था। यह राज्य किसी केन्द्रीयकृत सत्ता और उसके बल-आधारित विधान से संचालित राज्य नहीं था बल्कि वास्तविक सत्ता काफी हद तक लोगों के हाथ में थी। धन बड़ी मात्रा में वहीं रहता था जहां उसका

निर्माण होता था। ऐसी वित्तीय व्यवस्था में कार्यों, जिम्मेदारियों एवं सत्ता की संरचना किसी श्रेणीबद्ध ढांचे का रूप नहीं लेती थी बल्कि विभिन्न कार्यों, उनके करने वालों तथा सत्ता के केन्द्रों के बीच रिश्ते के आड़े-खड़े असंख्य पेचीदे एवं सुन्दर तथा कारगर प्रकार आकार लेते थे। शायद वित्तीय व्यवस्था की ऐसी विशेषताओं के चलते ही ग्राम-समाज एक महत्त्वपूर्ण और शक्तिशाली संगठन के रूप में अस्तित्व रख सकता था। ग्राम समाज के संगठन में विभिन्न इलाकों में अवश्य ही बड़े-बड़े अन्तर रहे होंगे, एक ही क्षेत्र में भी काफी विविधता देखी जा सकती थी। ग्रामीण सत्ता भी अवश्य ही कहीं कम तो कहीं अधिक होती होगी। विशेष तौर पर पक्के ग्राम-संगठन के उदाहरण उत्तर भारत से सुदूर दक्षिण तक मिलते हैं। तमिल प्रदेश के *समुदायम्* गाँव तथा उत्तर प्रदेश के *भाई-चारा* गाँव कुछ ऐसे विशेष प्रकार के गाँव थे, जिनका आंतरिक संगठन बहुत पक्का था। इनमें ग्राम समाज को अधिकांश विषयों में अन्तिम अधिकार था, जैसे उन गाँवों के अन्दर के हर किस्म के झगड़े तथा भूमि के आवंटन, स्थानान्तरण आदि से सम्बन्धित मसले इत्यादि।

वित्तीय व्यवस्था की यह चर्चा किसानों द्वारा दिये गये कर की व्यवस्था के आधार पर की गयी है। समाज में कर के और भी कई स्रोत रहे होंगे। इन करों की मात्रा भी अलग-अलग स्थानों पर अलग-अलग रही होगी। इनसे सम्बन्धित तथ्यों के अभाव में और कृषि कर से सम्बन्धित उपलब्ध तथ्यों के आधार पर निश्चित ही वित्तीय व्यवस्था का कोई प्रारूप नहीं तैयार किया जा सकता। जो हो सकता है, वह शायद इतना ही कि आजकल प्रचलित वित्त व्यवस्था की संरचना से सर्वथा भिन्न वित्तीय व्यवस्था के एक सम्भावी प्रकार की ओर ध्यान आकर्षित किया जा सकता है। जिस किस्म की व्यवस्था का वर्णन ऊपर किया गया है, उसका आधार स्थानीय सत्ता के एक कठिन तथा पेचीदे किन्तु सटीक समन्वय में है, जिसके चलते किन्हीं भी निहित स्वार्थों, वर्गों अथवा केन्द्रीय राज्य शक्ति द्वारा सामाजिक

मानदण्डों एवं परम्पराओं का हनन सरल नहीं रह जाता। ऐसा हनन यदि हो तो भी उसमें सुधार के विकसित रूप इस व्यवस्था में होते हैं, क्योंकि यह व्यवस्था बहुमत के हित तथा बहुमत की सक्रियता पर आधारित है। इस व्यवस्था में कृषि, उद्योग, हस्तकला इत्यादि के बीच में एक-दूसरे के पूरक सम्बन्ध होते हैं, जिनमें इन क्षेत्रों की व्यवस्थागत सुरक्षा का आधार भी होता है। समाज का बहुत बड़ा हिस्सा उत्पादन के कार्यों में लगा होता है, जिसकी स्वायत्तता एवं आत्मनिर्भरता में स्वराज का आधार होता है।

समाज संगठन और स्वदेशी विज्ञान की एकरूपता

जातियों, सम्प्रदायों, ग्राम-पंचायतों, केन्द्रीय सत्ता के अवयवों तथा अनेक अन्य महत्त्वपूर्ण बातों के बिना की गयी यह अधूरी-सी चर्चा समाज के संगठन के एक प्रकार, दूसरे शब्दों में सामाजिक संरचना के एक आंतरिक तर्क की ओर संकेत करती है। जिस प्रश्न पर हमें विचार करना है वह यह है कि समाज के इस प्रकार के संगठन का पारम्परिक विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के साथ क्या रिश्ता है।

समाज के ऐसे संगठन में विज्ञान और प्रौद्योगिकी को मनुष्य की अन्य गतिविधियों की तुलना में अलग से कोई विशेष स्थान मिला हो, ऐसा नहीं है। इसमें भी मनुष्य की सक्रियता का वही सार-रूप परिलक्षित होता है, जो अन्य गतिविधियों में है। मनुष्य की सक्रियता और सामाजिक संगठन के असंख्य आयाम हैं, जिनमें से तीन प्रमुख हम यहाँ व्याख्या के लिए चुन रहे हैं। ये हैं सत्ता, मूल्य और तर्क।

सामान्य तौर पर विद्या के क्षेत्र में तथा विज्ञान और प्रौद्योगिकी के विशिष्ट क्षेत्र में सत्ता का वही रूप परिलक्षित होता है, जो समाज के संगठन में होता है। जैसे भारत में अंग्रेजी दबदबे के पहले के समाज की पेचीदी वित्तीय व्यवस्था, जातीय संरचना तथा आत्मनिर्भर ग्रामीण इकाईयाँ यह कहती हैं कि इस समाज में सत्ता मूल रूप से विकेन्द्रित है, विभिन्न प्रकार के स्वायत्त समूहों में निवास करती है तथा वृहत् समाज को किसी श्रेणीबद्ध

ढाँचे में नहीं बाँधती। उसी तरह उस समय का कृषि, विज्ञान, स्वास्थ्य ज्ञान, शिल्प तथा उद्योग, वास्तु विद्या तथा वन विज्ञान आदि विद्या के विभिन्न क्षेत्र एक-दूसरे के साथ अनन्य सम्बन्ध रखते हुए भी सिद्धान्ततः स्वायत्त हैं अर्थात् एक की सैद्धान्तिक श्रेणियाँ किसी भी तर्क विधान से किसी दूसरे विद्या क्षेत्र की सैद्धान्तिक श्रेणियों में तब्दील नहीं की जा सकतीं। जिस तरह उस समाज में रोजमर्रे की गतिविधियों को रोजमर्रे के ढंग से न करने वाले के लिए भी स्थान है अर्थात् सामाजिक सत्ता का रूप ऐसा है कि ऋषि, संन्यासी, फकीर, चोर, पागल सभी के लिए समाज में स्थान है और यह मुख्यतः सामाजिक सत्ता के लचीले प्रकार के चलते, उसी तरह विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में प्रयोग व अन्वेषण आदि की वह मौलिक व्यक्तिगत स्वतंत्रता है, जिसकी कल्पना आज के वैज्ञानिक के लिए कठिन है। विज्ञान की आन्तरिक संरचना में सत्ता का ऐसा कोई रूप नहीं है, जो एक ही धागे से उसके विभिन्न आयामों को बाँध दे। शायद इसीलिए इस विज्ञान का सामाजिक सत्ता के साथ कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। इसी से सम्बन्धित बात यह भी है कि उस समाज में सत्ता का रूप आसुरी नहीं है तथा यह विज्ञान मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण का साधन नहीं हैं।

किसी भी समाज के मूल्य उस समाज के संगठन से उतना ही सम्बन्ध रखते हैं, जितना कि सत्ता के रूप। अंग्रेजों के पूर्व के अपने समाज के मूल्य (आदर्श) अधिकतर वही हैं, जिन्हें गांधीजी ने एक बार फिर प्रस्थापित करने का प्रयत्न किया। ये हैं—सत्य, स्वदेशी, सहयोग, स्वधर्म, स्वायत्तता, स्वराज तथा अहिंसा आदि। ये मूल्य उस समाज के गंतव्य आदर्श भी हैं तथा उस आदर्श तक पहुँचने के मार्ग भी। ये ही उस समाज के संगठन के वैचारिक आधार हैं तथा ये ही उस समाज के विज्ञान के निर्धारक तत्त्व हैं। शायद इन्हीं सामाजिक मूल्यों की यह देन थी कि स्वास्थ्य विज्ञान के विकास के लिए मेंढक, कुत्ते या मनुष्य को नहीं चीरा जाता

था। कृषि में भूमि की उर्वरा शक्ति के विनाश के संसाधनों का प्रयोग नहीं किया जाता था। वनों, नदियों एवं भू-गर्भ में छिपे खनिजों के साथ वह व्यवहार नहीं किया जाता था कि प्रकृति स्वयं अप्राकृतिक अतएव मरणासन्न हो चले। वह विज्ञान और प्रौद्योगिकी दूरस्थ समाजों को वंचित करके जमा किये गये संसाधनों पर नहीं चलती थी। वास्तव में वह प्राकृतिक अवस्था से बहुत अलग किसी अवस्था को न तो पैदा करती थी न ऐसी किसी अवस्था का इस्तेमाल करती थी, क्योंकि अत्यधिक अप्राकृतिक अवस्थाओं का प्रयोग अनिवार्य रूप से विनाशकारी होता है। उदाहरण के लिए जब पारम्परिक समाज ने लोहे के खनिज का आगलन करके लोहा बनाया तो जैसा कि जरूरी था, अत्यधिक ऊँचे तापमान का प्रयोग तो किया किन्तु सारी क्रिया का पैमाना इतना छोटा बना दिया कि उसके अप्राकृतिक नतीजों का प्रकृति अथवा मनुष्य पर कोई अप्राकृतिक कुप्रभाव न हो सका। इन मूल्यों से गर्भित समाज ने ऐसे ही विज्ञान को जन्म दिया, जिसमें सहयोग, स्वायत्तता व अहिंसा का समावेश था तथा जो आसुरी राजनैतिक सत्ता का आधार अथवा औजार कभी नहीं बना। सत्ता के आग्रह के स्थान पर सत्य के परिवेश ने गगनचुम्बी शिखरों की जगह असंख्य फूलों से खिले उपवन को आदर्श बनाया।

तीसरी बात तर्क से सम्बन्धित है। समाज के संगठन की संरचना का तर्क मनुष्य के सोचने-विचारने के प्रकार को प्रभावित करता है और इसके जरिये विज्ञान के वस्तु-विषय, गुण-रहस्य तथा सिद्धान्तों को आकार देने में एक निश्चित भूमिका रखता है। विज्ञान की आंतरिक संरचना का तर्क अन्ततः वही बनता है जो समाज की संरचना का तर्क होता है। उदाहरण के लिए समाज की संरचना की इकाई यदि समुदाय है, व्यक्ति नहीं; तो विज्ञान की इकाईयाँ अन्ततः कोई अणु अथवा परमाणु न होकर हवा, पानी, पृथ्वी, आकाश, अग्नि आदि जैसी वस्तुएँ ही हो सकती हैं। यदि वित्तीय व्यवस्था किसी केन्द्रीयकृत सत्ता का आधार तैयार नहीं करती है

तो विज्ञान की श्रेणियाँ किसी एक मौलिक श्रेणी का मार्ग प्रशस्त नहीं करेंगी। एक और कोण से हम इसे देखें। आयुर्वेद में नाड़ी और उसकी गति की बात की जाती है, वात, पित्त और कफ की बात की जाती है। आधुनिक आयुर्विज्ञान यह सब नहीं मानता, न नाड़ी उसका वस्तु विषय है और न उसकी गति कोई गुण। आज के विज्ञान के अनुसार नाइट्रोजन, फॉस्फोरस और पोटैशियम की मात्रा भूमि की उर्वरता तय करती है जबकि परम्परागत कृषि विज्ञान में नाइट्रोजन और फास्फोरस नाम से किसी चीज की पहचान नहीं है। आधुनिक कृषि विज्ञान में मिट्टी का गुण अन्ततः उसके घटक रासायनिक तत्त्वों के माध्यम से परिभाषित होता है जबकि पारम्परिक कृषि के विशेषज्ञ मिट्टी के गुणों के वर्णन में उसमें पैदा होने वाली चीजों व उनकी उपयोगिता आदि को भी सम्मिलित करते हैं। ऐसे उदाहरण हर क्षेत्र में मिल जायेंगे, जिनमें एक विज्ञान का वस्तु-विषय और गुण-रहस्य दूसरे विज्ञान में तर्क तुष्ट नहीं है। अर्थात् एक का तर्क का विधान दूसरे के तर्क के विधान से सर्वथा अलग है। न तो दुनिया में तर्क एक है और न वस्तु रूप अथवा गुणों की परिभाषा एक ही है। जिन समाजों की संरचना का तर्क अलग है, उन समाजों के विज्ञान के वस्तु-विषय और गुण-रहस्य भिन्न हैं, सिद्धान्त भिन्न हैं तथा उनकी आन्तरिक संरचना का तर्क अलग-अलग है। नीचे दिये गये समीकरण इसी बात को कहते हैं :—

विज्ञान = (वस्तु, गुण, सिद्धान्त)
= (क / क तर्क तुष्ट है)

अर्थात् विज्ञान रूपी भण्डार का गुण तर्क है। उस भण्डार का हर सदस्य तर्क तुष्ट होना अनिवार्य है। पारम्परिक विज्ञान और प्रौद्योगिकी का भण्डार आज के विज्ञान से सर्वथा अलग है। अतः उसका तर्क भी अलग है। यह वही तर्क है, जो पारम्परिक समाज की संरचना का तर्क है। समाज के भी सदस्य केवल वही होते हैं, जो तर्क तुष्टि की परीक्षा में उत्तीर्ण होते हैं जैसे—जातियाँ एवं धार्मिक सम्प्रदाय आधुनिक समाज

के न्यायसंगत सदस्य नहीं हैं क्योंकि इस समाज की तार्किक संरचना में इनका कोई स्थान नहीं है। तर्क की ये बातें आगे की चर्चा में शायद और स्पष्ट हो सकें।

भाग : दो
विखण्डन और गांधी का जवाब

पारम्परिक विज्ञान और प्रौद्योगिकी के ह्रास और भारत में आधुनिक विज्ञान के विकास एवं विस्तार के पूरे दौर में शायद ही ऐसा कोई काल-क्षेत्र मिले, जिसमें इन दोनों के बीच कोई संघर्ष अथवा प्रतिस्पर्द्धा दिखायी दे। स्वदेशी विज्ञान के बदलते रूपों का सम्बन्ध यहाँ के समाज के बदलते रूपों के साथ अवश्य देखा जा सकता है, जिसके पीछे जाहिर तौर पर अंग्रेजों की राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक दखलन्दाजी रही। इस दौर में सामाजिक संगठन और स्वदेशी विज्ञान के बीच के रिश्ते को समझने के लिए इसे चार भागों में विभाजित करना ठीक रहेगा। पहला भाग लगभग 1757 से 1857 का है, जिसमें स्वदेशी सामाजिक संगठन में बड़े पैमाने की तोड़-फोड़ की गयी। दूसरा भाग 1857 से 1920 का कहा जा सकता है, जिसके दौरान आधुनिक समाज संगठन को आकार दिया गया। तीसरा भाग 1920 से आजादी के समय का कहा जा सकता है, जब इस आधुनिक सामाजिक संगठन को चुनौती दी गयी। चौथा आजादी के बाद का काल है, जिसमें दुबारा आधुनिक सामाजिक संगठन को पुख्ता किया गया। आगे की चर्चा में हम पायेंगे कि हर काल के सामाजिक संगठन के बदलाव के अनुरूप स्वदेशी विज्ञान के सार-रूप में भी परिवर्तन आया तथा विज्ञान के इस सार-रूप में परिवर्तन ने जिन सामाजिक क्रियाओं से वह जन्मा था उनमें शक्ति भरने का काम किया। ऐसा लगता है कि आज

हम इस कालक्रम के पाँचवें चरण में प्रवेश कर चुके हैं, स्वदेशी समाज के पुनर्संगठन की क्रिया शुरू हो चुकी है, जिसके चलते स्वदेशी विज्ञान के पुनर्जागरण तथा नवसैद्धान्तिक रचना के कार्य भी दिखायी देने लगे हैं। यह महाधिवेशन शायद इसी बात का प्रमाण भी है। पर इसके बारे में हम अलग भाग में बात करेंगे।

(1)

भारत में अंग्रेजी शासन का जैसे-जैसे विस्तार हुआ, वैसे-वैसे एक नयी राजस्व नीति ने आकार लिया। अपने आधिपत्य के क्षेत्रों में अंग्रेजों ने सबसे पहला काम शायद यही किया कि वहाँ की परम्परागत वित्तीय व्यवस्था को भंग कर दिया। नयी कर नीति के दो महत्त्वपूर्ण अंग होते थे। एक, करों की मात्रा में असीम वृद्धि तथा दूसरा, सारे करों का एक केन्द्रीय सत्ता के पास जमा होना। पुरानी वित्तीय व्यवस्था, जिसकी चर्चा हमने पिछले भाग में की है, के भंग होने से परम्परागत समाज की जीवन-रेखा टूट गयी। उन असंख्य कामों के लिए कोई वित्तीय प्रावधान नहीं रह गया, जिनके लिए आवश्यक धन की व्यवस्था परम्परागत समाज में स्थानीय करों के जरिये की जाती थी। इससे स्थानीय सामाजिक सत्ता अर्थहीन हो गयी तथा पूरे समाज एवं इसके विभिन्न अवयवों की प्रतिरक्षा का आर्थिक-सामाजिक ताना-बाना टूट गया। अब यह सम्भव था कि किसी भी क्षेत्र में दखलंदाजी करके उसमें तोड़-फोड़ की जा सके। कृषि, उद्योग व व्यापार सभी को अस्त-व्यस्त करना अब सम्भव हो गया था जो अंग्रेजों ने कर दिखाया। सामाजिक प्रतिरक्षा के प्रकार को हम किसी भी जीव से तुलना करके समझ सकते हैं। यदि हम किसी स्वस्थ मनुष्य का पैर काटने की कोशिश करें तो उसका हाथ हमें ऐसा करने से रोकने आयेगा, यदि हम हाथ काटने जायें तो पैर हरकत में आ जायेंगे और यदि सिर पर प्रहार करें या हृदय बेधने जायें तो पूरा शरीर हाथ-पैर के साथ संघर्ष पर उतर आयेगा। किन्तु यदि मनुष्य मरा हुआ है तो उसका हाथ, पैर, सिर कुछ भी काट लें, कोई भी दूसरा अवयव प्रतिकार में नहीं उतर पाता। बीमार अथवा अस्वस्थ या पिटे हुए आदमी की हालत इन दोनों स्थितियों के बीच की कहीं की होती है।

अंग्रेजी शासन काल के पहले दौर की घटनाओं को इस ढंग से समझा जा सकता है। जहाँ एक तरफ किसान और आदिवासी विद्रोह तथा किलेदारों व स्थानीय राजाओं द्वारा किये गये युद्ध हृदय (वित्तीय व्यवस्था) बेधने के लिए किये गये प्रयासों के प्रतिकार के रूप में देखे जा सके हैं, वहीं वित्तीय व्यवस्था के टूट जाने पर धर्म, जाति, उद्योग, कृषि, व्यापार, शिक्षा व्यवस्था, न्याय व्यवस्था सभी प्रतिरक्षाविहीन हो जाते हैं। एक के बाद एक इन सबका हनन होता है, लेकिन वे एक-दूसरे की रक्षा में मैदान में नहीं उतर पाते। अतः विज्ञान और प्रौद्योगिकी का अपूर्व विघटन होता है। बुनकरों के अँगूठे काट लिये जाते हैं, सिंचाई व्यवस्था टूट जाती है, गोबर जलावन का रूप ले लेता है, वन परकीय सत्ता में विघटित होना शुरू हो जाते हैं, धातु उद्योग मरणासन्न हो जाता है, ज्योतिष और गणित की धाराएँ सूख जाती हैं। विज्ञान अथवा प्रौद्योगिकी के नाम पर जिसे भी पहचाना जा सकता है, वह सब आंतरिक टूट एवं स्थिरता का शिकार हो जाता है। हजारों वर्षों की सम्पदा का यह विघटन एक अत्यन्त ही हिंसक, भयानक एवं संवेदना शून्य घटना है। लोगों को उनकी जड़ से सर्वथा उखाड़े बगैर तथा एक महाआतंक के शिकंजे में कसे बगैर यह सम्भव नहीं है। इसे सौ साल से अधिक का समय लगता है। सन् 1857 का स्वराज-संग्राम परम्परागत सामाजिक संगठन की अन्तिम लड़ाई है। यह एक वास्तविक महासंग्राम था, जिसमें भारत की विजय भी हो सकती थी। यह तो इतिहास लेखन का कमाल है, जो इस समर के नतीजे को अंग्रेजों के पक्ष में पूर्व निर्धारित मानता है। ऐसा इतिहास लेखन औपनिवेशिक काल से ही इस देश की परम्पराओं को रद्दी करार देने तथा लोगों को मूर्ख और कमजोर कहने का औजार रहा है। किन्तु इस

पर विषयान्तर के भय से मैं अभी और कुछ नहीं कहना चाहता। अब हमलोग देखेंगे कि पारम्परिक सामाजिक संगठन तथा स्वदेशी विज्ञान के तहस-नहस होने का आगे क्या नतीजा निकला।

(2)

1857 के युद्ध के बाद भारत की सत्ता औपचारिक तौर पर ब्रिटिश सरकार ने अपने हाथ में ले ली। यह दौर लगभग 1920 तक चला, जब नये नियम-कानून बनाये गये। नयी दण्ड-संहिता एवं आचार-संहिता अस्तित्व में आयी। रेलवे तथा अन्य बड़े उद्योगों के माध्यम से पश्चिमी प्रौद्योगिकी ने इस देश में आकार लिया। पश्चिम की ही मान्यता एवं समझ के अनुसार अदालतें बनीं तथा नये विश्वविद्यालय खोले गये। केन्द्रीयकृत प्रशासनिक सेवाओं का बड़े पैमाने पर विस्तार हुआ। पश्चिमी ढाँचे की नौकरशाही, सेवा व पुलिस का जन्म हुआ। यह भारत में आधुनिक राज्य की स्थापना थी। इसके साथ व इसके आधार के रूप में पश्चिम की नकल पर एक समाज ने आकार लिया। इस समाज को हमने पश्चिमीकृत समाज की संज्ञा दी है। किन्तु यह समाज हमारी आज की चर्चा का विषय नहीं है। आज की चर्चा का विषय तो वह स्वदेशी समाज है, जिसके असंगठन के बल पर भारत में आधुनिक राज्य की स्थापना हुई।

किसानों, आदिवासियों, स्त्रियों तथा स्वदेशी उद्योगकर्ताओं से मुख्य रूप से बना यह समाज इस काल में किसी संगठित रूप में नहीं रह जाता है। इसके शिल्प, कौशल, ज्ञान सभी का सतत् ह्रास जारी रहता है। यह काल स्वदेशी मनुष्य की सक्रियता के निजीकरण का साक्षी है। स्वदेशी समाज के सार्वजनिक पक्ष का लोप हो गया तथा अब सार्वजनिक प्रतिष्ठा उसे ही मिल सकती थी जो पश्चिम के साथ, उसकी सत्ता, मूल्यों एवं ज्ञान-विज्ञान के साथ समझौता करता। अतः सामाजिक संगठन के जो रूप एवं मूल्य बच भी गये, वे स्वदेशी मनुष्य को जीवित रख पाने भर के साधन रह गये।

सक्रियता के निजीकरण का अर्थ ठीक से समझ लेना आवश्यक है क्योंकि यही केन्द्रीय महत्त्व की सैद्धान्तिक आवधारणा है। इसका अर्थ है कि स्वदेशी समाज की कोई भी गतिविधि अब उसी समाज की अन्य गतिविधियों के साथ भी किसी जीवन्त सम्बन्ध में नहीं है। धर्म के क्षेत्र में इसका अर्थ है कर्मकाण्ड के महत्त्व का बढ़ना तथा घरेलू क्रियाओं तक सीमित रहना। धर्म की तरह ही अन्य गतिविधियाँ भी अपने रचना एवं गतिशीलता के पक्ष को खो बैठती हैं क्योंकि सुधार एवं परिवर्तन के लिए आवश्यक अंतरक्षेत्रीय क्रिया-कलापों तथा सार्वजनिक कसौटियों एवं मानदण्डों का लोप हो चुका है। इसमें केवल सामाजिक सत्ता एवं मूल्यों का ही ह्रास नहीं है बल्कि सामाजिक संरचना के आन्तरिक तर्क का आमूल विखण्डन है। यह सब कुछ बदल जाने का प्रतीक है तथा यही वह अवस्था है, जिसमें विज्ञान तकनीक बन जाता है। जब तार्किक संरचना का ह्रास होता है, जब उस तर्क के प्रकार के सार्वजनिक अस्तित्व का ह्रास होता है, यानी जब मनुष्य की सक्रियता का निजीकरण हो जाता है, तब केवल ज्योतिष और गणित ही नहीं स्थिरता को प्राप्त होते हैं, बल्कि प्रौद्योगिक व्यवस्थाएँ छिन्न-भिन्न होकर व्यक्तिगत अथवा जातीय शिल्प, तकनीक बनकर रह जाती हैं। यही वह क्रिया है, जिसमें विद्यापति ऋषि खत्म हो जाते हैं, ज्योतिषाचार्य भविष्यवाणी करने वाले पण्डित का रूप ले लेते हैं, स्वास्थ्योपचार के वाहक ओझा बन जाते हैं, वास्तु विशेषज्ञ राजमिस्त्री कहलाने लगते हैं, लौह आगलन के विशेषज्ञ लोहार कहे जाते हैं, वन विज्ञान के विशेषज्ञ ईंटों के भट्ठों पर मजदूरी करते हैं, स्वदेशी कृषि विज्ञान के जानकार अशिक्षित और पिछड़े होते हैं तथा स्त्रियां घरों में बंद होकर मूर्ख एवं अबला जैसे विशेषणों से नवाज़ी जाती हैं।

अतः सक्रियता के निजीकरण के इस दौर में भी स्वदेशी समाज के संगठन और उसके विज्ञान, दोनों में बहुत नजदीक का सम्बन्ध है, दोनों एक जैसी ही टूटन के शिकार होते हैं। दोनों के ही सत्ता, मूल्य एवं सिद्धान्त

एक ही जैसे क्षय का शिकार होते हैं, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि इन दोनों में चल रही क्रियाएँ एक-दूसरे को बढ़ावा देती हैं। सामाजिक प्रतिरक्षा का ताना-बाना कितना ही क्यों न टूट चुका हो लेकिन स्वदेशी समाज का आंतरिक संगठन (क्षेत्रीय, जातीय, भाषागत, धार्मिक इत्यादि) स्वदेशी विज्ञान के क्षय को रोकने का प्रयत्न करता है तथा स्वदेशी विज्ञान कितना ही आहत और तिरस्कृत क्यों न हो, स्वदेशी समाज के आंतरिक संगठन में शक्ति संचार का साधन बनता रहता है। फिर भी शायद यदि यह दौर बहुत लम्बा चले तो यह विज्ञान और समाज दोनों ही खत्म हो जा सकते हैं या किसी ऐसी अवस्था को प्राप्त हो जा सकते हैं जो मृतावस्था जैसी ही हो, दुनिया में और जगह शायद ऐसा हुआ भी है। भारत में इस दौर को एक महान चुनौती का सामना करना पड़ा, जिसमें स्वदेशी समाज और विज्ञान ने ऐसी दिशा ली कि हमारी निजीकृत सक्रियता मुक्त एवं सार्वजनिक होने के ख्वाब देखने लगी।

(3)

गांधी का उदय इस प्रक्रिया को चुनौती के रूप में हुआ। उन्होंने स्वदेशी समाज एवं विज्ञान के आधारभूत तर्क को सार्वजनिक आकार देने का प्रयत्न किया। व्यवहार की भाषा में उसका अर्थ है कि गांधी ने स्वदेशी मनुष्य की सक्रियता की सार्वजनिक प्रतिष्ठा स्थापित करने का प्रयास किया अर्थात् स्वदेशी समाज को फिर से सक्रिय होने की दिशा में आगे बढ़ाया। उन्होंने आन्दोलन के जरिये स्वदेशी समाज की एकता स्थापित की तथा सत्याग्रह के जरिये स्वदेशी सत्ता के मुख्य रूप को उजागर किया। स्वराज, स्वदेशी इत्यादि को सत्य और अहिंसा की परिधि में प्रस्तुत करके उन्होंने स्वदेशी समाज की अवश्यम्भावी अन्तिम जीत का संदेश दिया। इस सबसे लोगों में एक नये किस्म की शक्ति का संचार हुआ तथा आधुनिक राज्य की सत्ता तथा उसके रूपकों से स्वतंत्र इस राष्ट्र की शक्ति के स्रोतों की पहचान परम्परागत समाज के संगठन, विज्ञान एवं

प्रौद्योगिकी के मूल्यों तथा आधारभूत घटकों में की जा सकी। इस संदर्भ में गांधी द्वारा अखिल भारतीय बनुकर समाज का गठन, चर्खा एवं खादी पर दिये गये जोर तथा ग्रामीण उद्योगों की पुनर्स्थापना एवं प्रतिष्ठा द्वारा किये गये कार्य को ठीक से समझा जा सकता है। इन कार्यों को स्वदेशी विज्ञान एवं तकनीक के पुनर्जागरण एवं नवीनीकरण की शुरुआत के रूप में देखा जाना चाहिए।

गांधी की भूमिका को समझ पाने के लिए तथा उसके जरिये स्वदेशी विज्ञान और समाज की परस्पर निर्भर पुनरूत्थान की इस क्रिया को समझ पाने के लिए आज प्रचलित एवं प्रतिष्ठित समाज विज्ञान की विश्लेषण की तकनीक से ऊपर उठना होगा। इतना ही नहीं बल्कि उन्हें नकारना भी होगा क्योंकि समाज विज्ञान उस अविद्या का ही अंग है, जो स्वदेशी समाज की एकता को तोड़ने तथा उसके विज्ञान को तिरस्कृत करने का साधन रही है। इस काल के वृहद् समाज और उसके उद्योग के रूपों में हो रहे बदलाव को समझने के लिए हमें सभी पूर्वाग्रहों और पुस्तकों के बोझ से मुक्त होकर मौलिक स्तर पर सोचने का प्रयत्न करना आवश्यक है। विचार इन प्रश्नों पर करना है कि सत्य और असत्य के बीच क्या सम्बन्ध होता है, अहिंसा क्या हिंसा के अभाव मात्र का नाम है, विभिन्न समस्याओं का सत्य क्या एक ही होता है, विज्ञान का सत्य और अहिंसा से क्या रिश्ता है, मनुष्य की सक्रियता में क्या केवल सत्य का आग्रह ही हो सकता है या आसुरी तत्त्वों का समावेश भी क्षम्य है, आधुनिक राजसत्ता और पारम्परिक राजसत्ता में क्या अन्तर है, क्या मनुष्य द्वारा मनुष्य का शोषण पारम्परिक समाज का भी अनिवार्य आधार रहा है या यह अनिवार्यता आज के समाज का ही अंग है? सवालों की यह सूची चाहे जितनी लम्बी हो सकती है। इनका जवाब भी हमें यहाँ नहीं देना है। यह सूची केवल यह बताने के लिए है कि इन जैसे प्रश्नों पर सतत् विचार करते रहने के अतिरिक्त शायद कोई रास्ता नहीं है, जिसपर चलकर

हम यह समझ सकें कि गांधी ने इस समाज को क्या दिया। वे महात्मा हो गये क्योंकि उनका कर्म चमत्कार जैसा था, ठीक उसी तरह जैसे मुट्ठी भर अंग्रेजों द्वारा भारत को गुलाम बनाकर रखने के चमत्कार के चलते वे शैतान कहलाये। अतः आपके विचारार्थ मैं एक सैद्धान्तिक संरचना प्रस्तुत कर रहा हूँ जो शायद हम लोगों की थोड़ी मदद कर सके।

गांधी ने उस तर्क को आकार देने का प्रयत्न किया है, जो भावी स्वदेशी विज्ञान भण्डार का गुण हो सकता है। गांधी के दर्शन में शुरुआत भी सत्य से होती है और अन्त भी सत्य पर होता है तथा शुरू से अंत तक अहिंसा का साथ भी नहीं छूटता। सत्य सूक्ष्म भी है और ब्रह्माण्ड भी, अंतरात्मा की आवाज भी है और वृहद समाज की महान परम्परा भी। यह वही सत्य है जो संत की वाणी में बसता है तथा किसान के हल और अगरिया की भट्ठी में बसता है। मनुष्य की सक्रियता सत्य के विभिन्न रूपों के बीच सम्बन्ध का ही नाम है। स्वदेशी, स्वराज, स्वधर्म, सत्याग्रह आदि इस सक्रियता के रूप हैं। अहिंसा इस सक्रियता के नियमन का सिद्धान्त है। कोई भी समाज जिस मात्रा में अहिंसा का तिरस्कार करता है उसी मात्रा में वह असत्य का भागीदार होता है अर्थात् उसी मात्रा में उस समाज में आसुरी शक्तियों एवं शोषण का समावेश होता है। इस सिद्धान्त से ही स्वदेशी तर्क के वे ठोस रूप पैदा होते हैं जो स्वदेशी विज्ञान भण्डार की सदस्यता तय करने की कसौटियाँ बनते हैं। गांधी के विचार और उनके जरिये अस्तित्व में आयी स्वदेशी विज्ञान और स्वदेशी समाज की अन्योन्याश्रित उत्थान क्रिया को केवल इसी सैद्धान्तिक संरचना के माध्यम से समझा जा सकता है, ऐसा नहीं है। यह प्रयास तो सिर्फ इंगित करने के लिए किया गया है कि उक्त क्रिया को समझने के लिए हमें कितनी गहराई तक जाने की आवश्यकता पड़ेगी।

(4)

गांधी के इस प्रयास की सार्वजनिक कालावधि भारत में लगभग पच्चीस

साल की है। आजादी के कुछ समय पहले से ही प्रतिकूल क्रियाएँ दिखायी देने लगती हैं। स्वदेशी समाज और विज्ञान की एकता पश्चिमपरक विकास में बहुत बड़ी बाधा थी। गांधी की मृत्यु ने अनुकूल परिस्थितियाँ कायम कर दीं। स्वतंत्र भारत की नीतियाँ स्वदेशी समाज के विभाजन पर ही आधारित थीं। राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, औद्योगिक आदि सभी नीतियों का नतीजा स्वदेशी समाज में फूट डालने और स्वदेशी विज्ञान को समाप्त करने की दिशा में ही रहा। एक तरफ संसदीय प्रणाली और उसके चुनाव लोगों के बीच फूट का कारण बने तो दूसरी ओर सरकार ने व्यवस्थित तौर पर आदिवासियों, हरिजनों, पिछड़ी जातियों, स्त्रियों तथा धार्मिक अल्पमतों आदि के लिए अलग-अलग कार्यक्रम बनाये तथा उन्हें अलग-अलग किस्म की सरकारी सहायता और सुविधा का प्रलोभन दिया। उद्योगों को बहुत बड़े पैमाने पर बढ़ाने की नीति ने असंख्य स्वदेशी उद्योगों को मरणासन्न बना दिया। इस सबके चलते स्वदेशी समाज छोटे-छोटे तबकों में विभाजित हो गया। इन तबकों के समान गुणों को दबाकर अलग-अलग तथा परस्पर विरोधी पहचान को बढ़ावा दिया गया। स्वदेशी समाज की एकता टूटते ही एक बार फिर राष्ट्र के सार्वजनिक जीवन में उनके लिए तिरस्कार के अलावा कुछ न बचा। उनकी भावना, संवेदना, चेतना तथा वास्तविक आर्थिक आवश्यकताओं की कोई हिस्सेदारी राष्ट्र की सार्वजनिक मुख्य धारा में नहीं रह गयी। यह किसी एक दल विशेष के चलते हुआ हो, यह समझना सर्वथा गलत होगा। इस राजनीति और आधुनिक राजसत्ता का रूप ही ऐसा है कि वह स्वेदशी विज्ञान अथवा स्वदेशी सामाजिक संगठन को सहन नहीं कर सकता।

इस देश की उद्योग नीति, कृषि नीति, स्वास्थ्य नीति, नगर नियोजन की नीति तथा इन सबको समेटने वाली विकास नीति ही ऐसी है कि उसने स्वदेशी विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी को हर क्षेत्र में दबाया, झुठलाया और मारा है। मिट्टी, लकड़ी, लोहा, पत्थर, पीतल, तांबा आदि का काम करने

वालों, किसानों, वैद्यों, ज्योतिषियों आदि सभी की स्थिति पिछले पचास वर्षों में और खराब ही हुई हैं। उनकी आर्थिक स्थिति खराब हुई हैं, उनकी सामाजिक स्थिति खराब हुई हैं, उनके मूल्यों में गिरावट आयी हैं, उनकी विद्या का नाश हुआ है तथा उनके अपने सामाजिक संगठन कमजोर हुए हैं। जाति और परिवार के अन्दर की सत्ता के रूप और टूटे हैं। किन्तु इन क्रियाओं के साथ ही स्वदेशी समाज और पश्चिमीकृत समाज के बीच सम्बन्ध में बदलाव आया है। एक स्तर पर तो यह दोनों एक बार फिर दो दुनिया के रूप में स्पष्ट तौर पर प्रतिष्ठित हुए हैं, लेकिन दूसरी ओर सम्पर्क के नये प्रकारों ने, बाजार व्यवस्था के विस्तार ने भी एक नयी चेतना के संचार में अपना योगदान किया है। स्वदेशी समाज की यह चेतना कितनी स्वदेशी है तथा स्वदेशी विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के पुनर्जागरण पर हो रही सार्वजनिक बहस का कौन-सा हिस्सा स्वदेशी समाज के हित से प्रेरित है और कौन-सा पश्चिमीकृत समाज के विकास में आ रही बाधाओं को दूर करने के लक्ष्य से प्रेरित है, इसकी जाँच की कोशिश अब हम करेंगे।

भाग : तीन
नई शुरुआत

ऐसा लगता है कि 1980 के दशक में कुछ ऐसी प्रक्रियाएँ शुरू हुई हैं, जो स्वदेशी समाज के पुनरुत्थान का मार्ग प्रशस्त कर सकती हैं। स्वदेशी मनुष्य की सक्रियता को पुनः सार्वजनिक स्तर पर प्रस्थापित करने की दृष्टि से समाज एवं विज्ञान को पुनः संगठित करने के लिए सत्ता, मूल्यों और तर्क का कोई नया ताना-बाना अर्थात् कोई नया दर्शन अस्तित्व में आया हो, ऐसा नहीं है। इस दृष्टि से गांधी-दर्शन की भी कोई समकालीन

पुनर्रचना का सार्वजनिक प्रयास हो रहा हो, ऐसा भी नहीं है। किन्तु समाज के अलग-अलग क्षेत्रों में ऐसे घटनाक्रम अवश्य आकार लिये हैं और ले रहे हैं, जो समाज में स्वदेशी सामाजिक एवं वैज्ञानिक चेतना के संचार के रास्ते खोल रहे हैं। ये हैं 1980 के दशक के किसान आंदोलन, राजनीति का क्षेत्रीयकरण, पिछड़ी जातियों का आंदोलन तथा स्वदेशी विज्ञान आंदोलन। किसी भी नई चेतना का जब विकास होता है तो वह समाज के हर क्षेत्र में, जैसे - आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक, साहित्यिक, कला सम्बन्धित आदि क्षेत्रों में दृष्टिगोचर होती है। घटनाक्रमों के उपरोक्त उदाहरण में सीमित क्षेत्रों का ही उल्लेख है किन्तु यही वास्तविकता है। इस सीमित वास्तविकता का कारण शायद यह है कि आधुनिक समाज में विद्या का हर क्षेत्र विज्ञान को ही आदर्श मानता है तथा सार्वजनिकता केवल राजनीतिक रूप में संकुचित होती चली जाती है। बहरहाल, हम लोग इन घटनाक्रमों को एक स्वदेशी दृष्टि से थोड़ा परखने की कोशिश करें।

किसान आंदोलन

सत्तर के दशक में शुरू हुआ तथा अस्सी के दशक में आकार लेने वाला किसान आंदोलन तमिलनाडु, कर्नाटक, महाराष्ट्र, गुजरात, उत्तर प्रदेश, हरियाणा व पंजाब में फैला हुआ था। हर प्रदेश में लाखों की तादाद में किसानों को संघर्ष में उतारने वाले इस आंदोलन का लक्ष्य था लाभकारी कृषि। भारत और इण्डिया के रूप में इस देश को विभाजित बताने वाले इस आंदोलन का कहना था कि इस देश के पश्चिमीकृत विकास का आधार इसमें है कि स्वदेशी समाज को उसके श्रम, भूमि, उत्पादन किसी भी चीज का वाजिब मूल्य नहीं मिलता है। आंदोलन का यह लक्ष्य कि कृषि का लाभकारी होना इस देश से गरीबी समाप्त करने के लिए आवश्यक है, स्वदेशी समाज के पुनरुत्थान की एक महत्त्वपूर्ण आर्थिक शर्त पूरी करता है। लेकिन लाभकारी कृषि के प्रश्न को बाजार व्यवस्था के चंगुल से छुड़ाने के स्थान पर आंदोलन उत्पादन के मूल्य, निर्यात

और आवक-जावक की छूट जैसे प्रश्नों में सिमट गया। तथापि इस आंदोलन ने कई सार्वजनिक आर्थिक मान्यताओं को तोड़ दिया तथा लाभकारी कृषि को केन्द्रीय मुद्दा बनाकर स्वदेशी समाज के लिए आर्थिक क्षेत्र में मौलिक प्रश्नों को उठाने का रास्ता खोल दिया।

पिछड़ी जातियों का उभाड़

1967 से देश की राजनीति में दो क्रियाएँ साथ-साथ बढ़ती हुई स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती हैं। ये हैं *राजनीति का क्षेत्रीयकरण और पिछड़ी जातियों का उभाड़।* तरह-तरह की कठिनाइयों के दौर से गुजरती हुई यह दोनों क्रियाएँ धीरे-धीरे मजबूत ही होती गयी हैं। झारखण्ड, विदर्भ, गोरखालैण्ड, बोडोलैण्ड तथा अन्य ऐसे कई और आंदोलन राष्ट्र के सार्वजनिक जीवन में क्षेत्रीय एवं जातीय अस्मिता तथा स्वायत्तता के विचारों का महत्त्व बढ़ाते रहे हैं। हलाँकि यही विचार इन आंदोलनों के अन्तिम लक्ष्य को भी परिभाषित करते हैं, लेकिन अधिकांश स्थानों पर स्वतंत्र राज्य की माँग प्रमुख माँग के रूप में सामने आयी हैं। इससे तुरन्त के दौर में इन क्षेत्रों के पश्चिमीकृत समाज के सामाजिक संगठन और सत्ता को ही बल मिलता है किन्तु स्वायत्तता एवं क्षेत्रीय तथा जातीय अस्मिता के विचारों की उपस्थिति स्वदेशी सामाजिक परिवेश तथा स्वदेशी मूल्यों एवं विद्या के लिए वह जगह देती है, जिसमें स्वदेशी सत्ता के रूप भी विकसित हो सकें। दूसरी ओर पिछड़ी जातियों के उभाड़ ने सामाजिक न्याय के नाम पर एक वैचारिक नेतृत्व को जन्म दिया है। हालाँकि वर्तमान दौर में सत्ता के अवयवों में जातिगत आरक्षण के एकमात्र रूप में यह लक्ष्य परिभाषित हुआ है किन्तु सामाजिक न्याय के विचार की प्रभावी सार्वजनिक उपस्थिति से स्वदेशी मूल्यों की प्रस्थापना की भी जगह बनी रहती है।

इस तरह हम यह कहना चाहते हैं कि इन सभी आंदोलनों के वर्तमान रूप पश्चिमीकृत सामाजिक ढाँचे एवं मूल्यों के बाहर न होते हुए भी उनके

अन्तिम लक्ष्य आर्थिक, राजनैतिक और सामाजिक क्षेत्रों में वह खुली जगह एवं रुझान पैदा कर रहे हैं, जो स्वदेशी समाज के अपने तर्क, मूल्यों एवं सत्ता के रूपों के विकास के लिए अवसर एवं आमंत्रण दे रहे हैं। इन आंदोलनों में खुद भी ऐसी असंख्य स्थानीय एवं छिट-पुट घटनाएँ होती रहती हैं, जो स्वदेशी वृत्ति का परिचय देती हैं। ऐसी कुछ महत्त्वपूर्ण बातों का उल्लेख हम कर रहे हैं। महाराष्ट्र की शेतकरी संघटना ने 1987 में और बाद में भी जिला परिषद चुनावों में केवल महिलाओं को उम्मीदवार बनाया तथा सभी दलों से ऐसा करने की अपील भी की। कर्नाटक के रैयत संघ ने 1983 में सामाजिक वान्यिकी के विरोध में लाखों यूकेलिप्टस के पौधे उखाड़ कर वहाँ स्थानीय प्रजातियों के पौधे लगाये। 1987-88 में उत्तर प्रदेश के किसान संगठन ने अपने पूर्वजों के समय का हवाला देते हुए शादी-ब्याह में होने वाले खर्च को कम करने तथा ग्रामीण समस्याओं को पंचायत के माध्यम से सुलझाने के ऐसे दो कार्यक्रम लिये। पिछड़ी जातियों के आंदोलन ने एक ऐसी प्रक्रिया को जन्म दिया है जिसके चलते दबी हुई जातियाँ अपने सामाजिक संगठन मजबूत करने में लग गयी हैं। 1992 की वाराणसी की राजभर (जाति) पंचायत तथा 1993 की उत्तर प्रदेश के सोनभद्र जिले में हुई अगरिया पंचायत और सूर्यवंशी पंचायत ऐसे ही उदाहरण हैं। और भी बहुत जगह बहुत-सी घटनाएँ हुई होंगी, जिसकी जानकारी हमें नहीं मिल सकती, क्योंकि वे न अखबारों का विषय हैं और न विद्वानों के अध्ययन का विषय। इसी तरह क्षेत्रीय और जातीय अस्मिता की बातें स्वाभाविक तौर पर स्थानीय सत्ता के ऐसे प्रकारों को जन्म देती है जिसकी जानकारी भिन्न संस्कृति के दूसरे क्षेत्रों में रहने वाले लोगों को आसानी से नहीं हो पाती। इस सारी प्रक्रिया को यदि राष्ट्र की राजनीति को स्थापित करने की प्रक्रिया के रूप में देखा जाय तो कुछ नहीं दिखायी देगा। स्वदेशी समाज के फिर से संगठित होने की चेतना कोई वैकल्पिक राजनीति की चेतना नहीं है तथापि इसे राजनीति के विकल्प की चेतना के रूप में विकसित होना है। इसके अलावा शायद यह भी

सच है कि स्वदेशी विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के ठोस संदर्भों को शामिल किये बगैर स्वदेशी सामाजिक चेतना का ढाँचा अधूरा ही रह जाता है। इसलिए हमलोग अब स्वदेशी विज्ञान के नाम पर पुनः प्रवाहित धारा की भी जाँच करने का थोड़ा प्रयत्न करें।

स्वदेशी विज्ञान आंदोलन

जैसा कि हमने पिछले भागों में देखा है कि वैज्ञानिक चेतना और कर्म का दौर सामाजिक चेतना और कर्म के दौर के बाद ही आता है। वर्तमान दौर में भी ऐसा ही हुआ है। 1977-78 के बाद से धीरे-धीरे स्वदेशी वैज्ञानिक चेतना का विकास देखा जा सकता है। आज 1993 में मुम्बई में आयोजित भारत के परम्परागत विज्ञान व प्रौद्योगिकी का यह महाधिवेशन इस बात का सार्वजनिक प्रमाण है। इस महाधिवेशन को वैचारिक आकार देने वाला तथा संगठन की ठोस पहल लेने वाला मद्रास का पेट्रियाटिक एण्ड पीपुल ओरियंटेड साइंस एण्ड टेक्नोलॉजी (पी.पी. एस.टी.एफ.), इस चेतना की स्थापना और विकास का प्रथम संगठन है। इसने 1979-80 से आधुनिक विज्ञान की सार्वभौमिकता को चुनौती देने का तथा भारतीय विज्ञान की महान परम्परा को उद्घाटित करने का महाकार्य किया है। स्वास्थ्य, कृषि, वास्तु, उद्योग, धातु शास्त्र, गणित एवं तर्कशास्त्र तथा शिक्षा व्यवस्था व सामाजिक संगठन में अनुसंधान ने यह दिखाया है कि किस तरह से पिछले दो सौ पचास वर्षों से सभी कुछ अवनति के रास्ते पर है और आज इस अवस्था में पहुँच चुका है कि सामाजिक स्तर पर इन सबकी पुनः स्थापना एक मनोगत सपना ही हो सकता है। किन्तु यह भी सच है कि स्वदेशी विज्ञान के भण्डार और तर्क के सहारे के बगैर स्वदेशी सामाजिक संगठन को आकार देने का ख्याल भी एक ख्वाब से अधिक कुछ नहीं हो सकता। इसी कठिन स्थिति में रास्ता खोजना है।

स्वदेशी विज्ञान आंदोलन में दो धाराएँ हैं, जो अभी तक मिली-जुली रही हैं और अब कुछ-कुछ अलग दिखना शुरू हुई हैं। पहली धारा वह है जो स्वदेशी विज्ञान और प्रौद्योगिकी की ओर इसलिए ध्यान खींचती है कि इसकी मदद से पश्चिमीकृत विकास में आ रही बाधाओं को दूर किया जा सके। इस धारा के लोग मुख्य रूप से स्वदेशी विज्ञान और प्रौद्योगिकी को परम्परागत भारतीय तकनीकों और शिल्पों के एक महाभण्डार के रूप में देखते हैं। सिद्धान्त के स्तर पर विज्ञान एवं तकनीकी व्यवस्थाओं तथा विभिन्न क्षेत्रों के पारस्परिक सम्बन्धों की सैद्धान्तिक संरचना आदि की बातें तो की जाती हैं किन्तु सिर्फ तकनीक और शिल्प के स्तर पर ही आज के विश्व में उनकी प्रासंगिकता को समझा जाता है। दूसरी धारा स्वदेशी विज्ञान आंदोलन को स्वदेशी समाज में शक्ति संचार का साधन मानती है। यह किसानों, स्त्रियों, आदिवासियों और शिल्पकारों के बीच से उनकी उत्पादक गतिविधियों के गर्भ में से नये मूल्यों एवं सत्ता तथा तर्क के नये विधान निरूपित करना चाहती हैं। इस धारा के लोग स्वदेशी विज्ञान को आज उपलब्ध किन्हीं शिल्प अथवा तकनीक के रूप में न देखकर भावी विद्या के एक अवयव के रूप में देखते हैं। इन दो धाराओं को हम तकनीकी धारा और सामाजिक धारा की संज्ञा देते हैं तथा इन्हीं नामों से इन्हें आगे सम्बोधित करेंगे। कुछ उदाहरणों से शायद बात को और स्पष्ट कर दिया जा सके।

अब हम कुछ ऐसे उदाहरण लेते हैं, जिनमें तकनीकी धारा के अंतर्गत किया गया भाग स्पष्ट होता है। पाणिनी के व्याकरण का इस्तेमाल करके कम्प्यूटर की ऐसी विधाओं को तैयार करने के प्रयत्न किये गये हैं, जिनसे भारतीय भाषाओं का सरल लेखन और उनका आपस में अनुवाद किया जा सके। ऐसा अनुवाद जल्दी से कर पाने के कई लाभ हो सकते हैं, जैसे एक प्रमुख लाभ यह हो सकता है कि भारत में अन्तर्राज्यीय सम्प्रेषण अंग्रेजी के बगैर भी हो सके, दूसरा यह कि कम्प्यूटर विज्ञान के क्षेत्र में भारतीय वैज्ञानिकों की भी कुछ हैसियत दिखयी दे। लेकिन यह देखना कठिन है कि ऐसे अनुसंधान से भारतीय विद्या के तर्क व मूल्य का महत्त्व कैसे बढ़ेगा। इसी जैसा दूसरा उदाहरण वैदिक गणित की सिद्धियों का

कम्प्यूटर अथवा टेली कम्युनिकेशन में इस्तेमाल का है। उद्योग के क्षेत्र में परम्परागत हस्तशिल्प को बढ़ावा देने वाले आर्थिक कारण बताकर उसके निर्यात का यथासम्भव प्रयास करते हैं। विदेशी मुद्रा लाभ के इस दृष्टिकोण से वह हस्तशिल्प विदेशी बाजार की पसंदगी-नापसंदगी के पैमाने के अंतर्गत दिशा लेने लगता है। एक छोटी-सी संख्या में शिल्पियों को आर्थिक लाभ होता है। बड़े पैमाने पर बिचौलिये लाभ उठाते हैं और शिल्पकला का स्वदेशी तत्त्व नष्ट हो जाता है। स्वास्थ्य के क्षेत्र में एक भयंकर घटना आकार ले रही है। बड़े पैमाने पर विदेशी पैसे की मदद से यह प्रयास हो रहा है कि जड़ी-बूटियों तथा विविध दवाओं के स्रोत वाले पौधों को उनकी प्राकृतिक ऊपज के स्थान से हटाकर बड़ी-बड़ी कृत्रिम प्रयोगशालाओं में जिन्दा रखा जाय। कारण यह दिया जाता है कि प्राकृतिक अवस्था में उन पौधों को बचाकर रखना कठिन होता चला जा रहा है। अतः इन्हें कृत्रिम प्रयोगशालाओं में बचाकर रखना आवश्यक है। जैव विविधता के रक्षण एवं भरण-पोषण का यह कार्य स्वदेशी समाज और स्वदेशी विज्ञान के लिए कितना घातक है, इसका अनुमान लगाना भी आसान नहीं है। अब लोहा बनाने वाली जातियाँ भी सामने आयी हैं। स्थानीय संसाधनों और अपने ज्ञान-विज्ञान के बल पर अगरिया जाति के लोग छोटी-छोटी भट्ठियों में लोहा गलाते हैं। विशेषज्ञ बतलाते हैं कि ऐसे गुण का लोहा बनाने की आधुनिक तकनीक अत्यन्त महँगी है तथा अभी तक भारत में इस्तेमाल में नहीं है। शायद यह भी सच है कि ठीक वैसा ही लोहा बनाना आधुनिक तकनीक द्वारा सम्भव ही नहीं है। अगर स्वदेशी विज्ञान आंदोलन देश की लोहा उत्पादन की आवश्यकताओं के हवाले इस स्वदेशी लौह आगलन विधि को फिर से संगठित करने का प्रयास करता है तो यह तकनीकी धारा का परिचायक होगा। सामाजिक धारा का आग्रह तो यही होना चाहिए कि यह अगरिया लोगों का लौह विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी उनके समााजिक संगठन एवं सत्ता को मजबूत बनाने का औजार बनता है।

जिन सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक आंदोलनों की इस भाग के शुरू में चर्चा की गयी है, उनसे स्वदेशी विज्ञान आंदोलन का सहानुभूति का रिश्ता है। इन सभी आंदोलनों के कार्यकर्ता अधिकतर एक-दूसरे के कार्यों से सहानुभूति रखते हैं। किन्तु समाज में होने वाले किसी भी जन आंदोलन के साथ स्वदेशी विज्ञान आंदोलन के कर्म का कोई रिश्ता नहीं है। कर्म के इस सम्बन्ध के बनने का ही अर्थ होगा स्वदेशी विज्ञान और समाज के नाम पर एक नयी चुनौती का आकार लेना। ऐसी चुनौतियाँ विश्लेषणात्मक संदर्भों से नहीं जन्म लेती हैं, अतः उसकी और चर्चा का कोई अर्थ नहीं। तथापि इस चुनौती का एक भ्रामक रूप अस्तित्व में आया है, जिसके बारे में दो शब्द कहना उचित होगा। प्राचीन विद्या को स्कूली शिक्षा में स्थान देने का एक प्रयत्न चल रहा है। अभी यह वैदिक गणित के नाम पर हो रहा है। भारतीय मूल्यों और संस्कृति को शैक्षणिक परिवेश में तथा वृहद समाज में भी प्रभावी स्थान हो, ऐसे प्रयत्न हो रहे हैं। यह सब भारतीय परम्परा के पुनर्वास का एक भ्रामक रूप तैयार कर रहा है। भारतीय परम्परा की कोई भी बात जिसमें किसानों, दस्तकारों, आदिवासियों एवं स्त्रियों अर्थात स्वदेशी समाज के लिए स्थान नहीं है, केवल कुछ और कामों को करने के लिए एक पर्दे का काम ही कर सकती है। परम्परा के इस रूप में स्वदेशी समाज और स्वदेशी विज्ञान के लिए कोई स्थान नहीं है इसलिए यह भ्रामक और झूठा है।

भाग : चार
अंत में

स्वदेशी विज्ञान और स्वदेशी समाज के विशिष्ट संदर्भ में विज्ञान और सामाजिक संगठन के बीच सम्बन्ध पर की गयी यह चर्चा हमें एक खास मुकाम पर ले आयी है। यह स्पष्ट हुआ है कि स्वदेशी समाज के

उद्धार का प्रश्न एक स्वदेशी विज्ञान के विकास के प्रश्न से अलग नहीं है। इस मत तक पहुँचने के लिए जो ऐतिहासिक व्याख्या की गयी है वह आवश्यक नहीं है। यदि हम अपनी अन्तरात्मा से बात करने की कला व क्षमता विकसित कर सकें तो वह मार्ग भी हमें यही उत्तर देगा। अगर हम स्वदेशी समाज के लोगों के पास जो भी कौशल और प्रौद्योगिकी है उसकी आवश्यकताओं और उन लोगों की जरूरतों की एक निष्कपट व्याख्या करें तो भी हमें यही उत्तर मिलेगा। यदि हम अपने पारम्परिक निजीकृत मूल्यों तथा अराजनीतिक सत्ता के रूपों के सार्वजनिकीकरण की प्रक्रिया पर विचार करें तो भी हमें यही उत्तर मिलेगा। हम सत्य से डिगे बगैर यदि आधुनिक विज्ञान और सामाजिक संगठन के बीच रिश्ते की व्याख्या जारी रखें तो भी हमें यही उत्तर मिलेगा। विज्ञान और समाज में संरचनागत एकता है। यानी दोनों की संरचना का तर्क एक ही होता है अतः या तो दोनों साथ में बदलेंगे या कोई नहीं बदलेगा। स्वदेशी समाज के अपने संगठन तथा तद्नुरूप उनकी विद्या का संगठन सार्वजनिक सत्ता के रूप में आकार ले यानी इस भूखण्ड के लोग फिर से अपनी सक्रियता प्राप्त कर सकें, इसके लिए आवश्यक है कि आधुनिक राज्य व्यवस्था और आधुनिक विज्ञान उनका रास्ता छोड़ दे। भारतीय पारम्परिक विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के प्रति यदि हमारी संवेदना सच्ची है, स्वदेशी समाज के पारम्परिक मूल्यों, सत्ता के रूपों और तर्क के विधान से अगर हमारा कोई लगाव है, यदि हम उन्हें सम्मान देना चाहते हैं तो यह पहचानना और मानना जरूरी है कि आधुनिक विज्ञान को चुनौती इस कार्य की एक अनिवार्य शर्त है।

•

SWADESHI VIGYAN AND SWADESHI SAMAJ

AN ANALYSIS OF THE CHANGING RELATION IN INDIA FOR THE LAST TEN GENERATIONS

This is a summary of the Key-note address for the social organisation section in the Congress on the traditional sciences. In tune with the theme of the Congress, the address deals with the question of relation between the traditional sciences and the technologies and the corresponding organisation of society. Form the point of view of contemporary relevance the period covered is from the pre-British days to this day. Both from the point of view of chronology and the analytical standpoint this period is divided into three parts : first relating to the pre-British days, when the science and society both were perhaps in a functioning state, the second stretching up to the present when both suffered decline under alien onslaught and a third constituting a re-awakening both in spheres of science and society with perhaps a promise. The central thesis is that sciences and societies which belong to each other have the same logic and therefore traditional sciences and technologies make sense only in the context of a possible reogranisation of this society.

Part - I

Dharampal's seminal work on 18th century has provided the present generations with fresh data and understanding on the nature of science and society just before the British started disorganizing and breaking down all that there was. The Chinglepet data coupled with his other writings lead to a conception of public finance of that period which simultaneously sheds some light on the organisation of state, society and the sciences and technologies. In 18th century India most parts of this country functioned with great autonomy. The agriculturists paid revenue which was about 25-30 per cent of the total produce. Of this revenue 80 per cent or more was retained at the local level and only between 5 to 20 per cent went to the central exchequer. The locally retained revenue was spent on wages and work of all kind including the crafts, the smithies, temple activities, irrigation and a great variety of services all adding to a number greater than fifty. This local revenue was collected by a great variety of people and to a great variety of points, in fact often to points of disbursement. Regulated by the village panchayats and other local bodies this fiscal arrangement was governed by very well defined norms. This was a very different kind of state in a very different kind of society, the sciences and technologies not occupying any special or above-the-board status.

The sciences of agriculture, industry, architecture, health, metal work, logic and mathematics of that period appear to exhibit the same system of values and distribution of elemental power as prevalent in society. Truth, cooperation, non-violence, autonomy, epistemic diversity and similar concepts perhaps defined both the values as well as the nature of power distribution both in society as well as in the sciences. This identity further points to a formal isomorphism between the two. The structure of science and the logic of social organisation cannot but be identical in a functioning society which is not based on exploitation and the inevitable use of violence. It is only such societies and such sciences which can be the subjects of sacred human interest.

Part – II

The modern sciences have been taking shape in this country purely through the occupation of the empty spaces created by the political and economic onslaught on the Indian sciences and industry. The British, through their revenue policy and other measures, first carried out a colossal disorganization of Indian society. They broke down the traditional fiscal arrangement, thus breaking the lifeline of the society, rendering all the aspects defenseless. Religion, social organisation, political set up, military,

sciences, industries; nothing in absence of the uniting feature could come to the rescue of one another. So everything tends to give way, sciences and technologies included. This phase can be said to have lasted till 1857 when the great resistance of the traditional society was finally broken.

With the formal assumption of power by the British Government in India the foundation of the modern state were laid. From now on India was subjected to a Law and Order State in which all the dimensions of public life, education, justice, administration, science and industry were created a fresh on an alien pattern. What did not adjust with the new ways had no place in public life. In one word the human activity, the mode of social organisation and the logic of the sciences were privatized. This was the only way if they did not want to perish. Nevertheless, the result obviously was fossilization turning religion into ritual and science into technique. The society in this phase was also reduced to a state of non-reckoning. The peasants, the craftsmen, the adivasis and women in general constituted in a sense a Swadeshi Samaj which preserved and still worked with the traditional sciences and the technologies, the swadeshi sciences. Both swadeshi samaj and swadeshi science suffered constant decline, yet came to the rescue of each other and when possible succeeding perhaps in keeping alive both in reality and in memory

traditional modes of social organisation and the logic of the swadeshi science.

It was Gandhi, perhaps since 1920, who attempted to put this preserved treasure back on the constructive path. Trying to liberate the public life from the 'freedom-reason' trap he established in practice the perspectives of truth and nonviolence. Charkha, village industries and weavers associations integrated into a movement for swaraj created a scene of a possible regeneration of that science and society which had known only decline for more than six generations. Swadeshi science and swadeshi samaj were back in the struggle. But the rulers of independent India once again tried to suppress them beyond recognition.

Policies of Independent India relating to agriculture, industry, health, forests, in fact the overall policies of development are such that they have undone swadeshi science in every possible sphere. Potters, blacksmiths, metal workers, architects, peasants, vaids and jyotishies all have suffered continuous deterioration since Independence. Adivasis have been further deprived of forest resources, women have lost control in great many productive activities which were earlier organised by them. Thus traditional social organisation has further suffered rupture and logic of swadeshi science has become more alien for the educated. However new phenomena have been unleashed, which give an impression of regeneration of the swadeshi consciousness. Part III tries to analyse and

see what aspects of this new consciousness are genuinely swadeshi.

Part – III

In face of the apparent ganging-up of the educated against all that is swadeshi, the swadeshi samaj appears to reorganize with difficulty, haltingly and also perhaps with some confusion. Of late four major phenomena can be indentified which are perhaps promoting a new swadeshi consciousness. Three of these relate to socio-economic-political spheres. These are the movement of the backward classes in the name of social justice, the peasant movement for the economic well-being of the peasantry and regionalization of politics in the name of ethnic and regional social identities. All these often challenge the dominant models of social, economic and political organisation based on a mobilization of the people called swadeshi samaj above. They have surely opened new public spaces for the development of new swadeshi consciousness. The late seventies also witnessed the birth of a swadeshi science movement. Inaugurated by the P.P.S.T. Foundation this movement has grown, the present Congress being a major result. Although appearing in radical theoretical terms the swadeshi science movement also has two clear strands similar to the once in the

people's movement. These are : one, efforts directed towards removal of hurdles in the development of the paschimikrit samaj and the other, attempts at discovering a new identity between social organisation and the logic of swadeshi science.

These swadeshi samaj movements and the swadeshi science movement although often having sympathy for each other do not have any working relationship. It is this (not yet) relationship in the sphere of action which perhaps lays the foundations of a new science-society identity which is in the interest and according to the genius of the people of this country. Note must be taken at this point of an apparently popular model being propagated these days which claims Indian heritage without reference either to the damage done by the British or to the fact that since their intervention the entire price of the so-called development of the nation has been paid by the blood and toil of the swadeshi samaj. The concept of tradition propagated in this deceptive model has no place either for swadeshi science or for swadeshi samaj.

Part – IV

The concluding sentences only point out that this entire analysis leads us to seeing that the question of emancipation of the swadeshi samaj and the question of

development of swadeshi science are not two different questions. There can be many other ways ranging from meditation to economic analysis whereby one can discover this identity of the logic of science and of social organisation. This tells us that if we recongnise the knowledge base and practices handed down to us from a great past as a science and not just as a collection of techniques, then we ought not to indulge in its piecemeal use without addressing the question of a compete societal transformation.

•

लोकविद्या साहित्य सूची
1998 – 2014

लोकविद्या विचार कई प्रकाशनों के मार्फत सामने लाया गया है। अभी तक के प्रकाशनों की सूची नीचे दी जा रही है। विद्या आश्रम से इन्हें प्राप्त किया जा सकता है।

हिन्दी

- **लोकविद्या विचार** (पुस्तक)
- **रामअधार गिरी : लोकहित के प्रहरी** (पुस्तक)
- **लोकविद्या संवाद :** (पत्रिका) कुल 16 अंक, विशेष अंक— कारीगर, किसान, नारी, स्थानीय बाजार, सूचना युग में समाज में ज्ञान पर चर्चा, साहित्य विद्या।
- **लोकविद्या पंचायत :** (पत्रिका), कुल 17 अंक।
- **कारीगर नजरिया :** (अखबार)
- **लोकविद्या प्रपंचम :** (तेलुगु अखबार)
- **ज्ञान की राजनीति पुस्तकामाल : कुल 5 पुस्तिकायें–**बौद्धिक सत्याग्रह, लोगों के हित की राजनीति और ज्ञान का सवाल, ज्ञान मुक्ति आवाहन, युवा ज्ञान शिविर और लोकविद्या।
- **लोकविद्या जन आंदोलन पुस्तकमाला : कुल 9 पुस्तिकायें–** विस्थापन रोका, बाजार मोड़ो-लोकविद्या बाजार बनाओ, स्मारिका : लोकविद्या जन आंदोलन प्रथम अधिवेशन 2011, लोकविद्या सत्संग, लोकविद्या जन आंदोलन का बिहार समागम 2012,

लोकविद्या जन आंदोलन का मध्य प्रदेश प्रांतीय अधिवेशन 2012, लोकविद्या जन आंदोलन : मालवा और निमाड में बढ़ते कदम, जन संघर्ष और लोकविद्याधर समाज की एकता, सभी की आय पक्की व नियमित हो और यह आय सरकारी कर्मचारी के बराबर हो।

अंग्रेजी

- Gandhi's Challenge to Modern Science (Book)
- Lokavidya, Internet and the Future of the University (Book, forthcoming)
- **Bulletins : Dialogues on Knowledge in Society**— (Four bulletins) Knowledge in Society, Virtuality and Knowledge in Society, Knowledge Satyagraha, Radical Politics and the Knowledge Question.

विद्या आश्रम की वेबसाइट www.vidyaashram.org पर आश्रम के सदस्यों के कई महत्त्वपूर्ण लेख उपलब्ध हैं। ऊपर दिये गये सभी प्रकाशन भी वेबसाई पर उपलब्ध हैं। लोकविद्या जन आंदोलन ब्लाग www.lokavidyajanandolan.blogspot.com पर समय-समय पर होने वाली गतिविधियों के बारे में पढ़ा जा सकता है। लोकविद्या विकी www.LokavidyaWiki पर लोकविद्या विचार/शब्दावली के विभिन्न शब्दों/अवधारणाओं के अर्थ संक्षेप में दिये गये हैं।

•